साल 2011 के विद्रोह और विरोध प्रदर्शन

2011 का साल दुनिया भर में विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों का साल रहा है। यह विद्रोह ओर विरोध प्रदर्शन पहले से चल रहे संघर्षों से अलग हैं और इनकी प्रकृति भी किसी हद तक भिन्न है। ये दुनिया में नयी चीज के संकेत सूचक हैं। इस लेख में हम इन विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों की प्रकृति और गति को समझने का प्रयास करेंगे।

I दुनिया भर में विद्रोह और विरोध प्रदर्शन

जब **17** दिसम्बर **2010** को ट्यूनीशिया के सिदी बौजिद कस्बे में नगरपालिका की एक महिला कांस्टेबल ने सब्जी–फल का ठेला लगाने वाले बेरोजगार नौजवान मोहम्मद बौजिजी को थप्पड़ मारा तो उसे जरा भी गुमान नहीं था कि यह थप्पड़ सारी दुनिया में गूंजेगा और अरब जगत में विद्रोहों से लेकर साम्राज्यवाद के गढ़ संयुक्त राज्य अमेरिका में बड़े विरोध प्रदर्शनों के लिए बन्दूक का घोड़ा बन जायेगा। निराश, पस्तहिम्मत, अपमानित और क्षुब्ध बौजिजी ने उसी दिन आत्मदाह कर लिया और उसके इस हताशा भरे कदम ने ट्यूनीशिया में गुस्से की लहर फैला दी। अगले दिन से ही लोग उसके शहर सिदी बौजिद में सड़कों पर उतर आये और देखते ही देखते यह विरोध प्रदर्शन पूरे देश में फैल गया। और जब **4** जनवरी **2011** को बौजिजी की मृत्यु हो गई तो लोगों का गुस्सा चरम पर पहुंच गया। सारे बांध टूट गये। अंततः **16** जनवरी को राष्ट्रपति अबीदीन बेन अली देश छोड़कर भाग खड़ा हुआ। उसने अरब जगत में सबसे प्रतिक्रियावादी सऊदी शेखों के यहां शरण ली।

ट्यूनीशिया में विरोध प्रदर्शनों की शुरुआत नवयुवकों ने की थी लेकिन शीघ्र ही इसमें बड़े पैमाने पर मजदूर वर्ग शामिल हो गया। नवयुवकों और मजदूर वर्ग के इस विद्रोह को तानाशाह बेन अली ने बंदूकों से कुचलने की कोशिश की। पर शहादतों की संख्या बढ़ने के साथ विद्रोही जनता का हौसला बढ़ता गया और अंततः बेन अली के लिए देश छोड़ कर भागने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा।

अबीदीन बेन अली के पलायन के बाद ट्यूनीशिया के शासकों ने एक अंतरिम सरकार गठित कर एक संविधान सभा के लिए चुनाव करवाने की घोषणा की। साल के अंत में इसके लिए चुनाव भी हुए जिसमें इस्लामी शासन के पक्षधर एनहादा तथा अन्य को बहुमत मिला। ये सब ट्यूनीशिया में एक इस्लामी जनतंत्र कायम करने की बात कर रहे हैं।

इस बीच बेन अली के पलायन से लेकर अभी तक विद्रोही जनता लगातार अपने विद्रोह को आगे बढ़ाने का प्रयास करती रही है। इसमें मजदूर वर्ग की अग्रणी भूमिका रही है। कुछ भी न बदलने देने के शासकों के प्रयास को इसने लगातार चुनौती दी है और उन्हें किसी हद तक पीछे हटने को मजबूर किया है।

मोहम्मद बौजीजी के आत्मदाह के बाद जब ट्यूनीशिया में विरोध प्रदर्शन शुरू हुए तो अरब जगत के कई देशों में हताश नौजवानों द्वारा आत्मदाह की कोशिशें हुई। ये शुरुआती संकेत थे कि बाकी अरब देशों में भी हालात कमोबेश ट्यूनीशिया जैसे ही हैं। और जब ट्यूनीशिया की विद्रोही जनता ने अबीदीन बेन अली को खदेड़ दिया तो बाकी देशों में भी विद्रोह फूट पड़े। मिश्र, बहरीन, यमन, सऊदी अरब, सीरिया, लीबिया, मोरक्को, अल्जीरिया इत्यादि सभी विद्रोहों की चपेट में आ गये। वक्त के साथ इन विद्राहों का अलग–अलग हश्र हुआ। सऊदी अरब, बहरीन इत्यादि में, खासकर बहरीन में जहां लगभग सारी जनता विद्रोह में शामिल थी, विद्रोह को निर्ममता पूर्वक कुचल दिया गया। सीरिया और यमन में यह अभी भी जारी है। लीबिया में विद्रोह का फायदा उठाकर साम्राज्यवादियों ने उस पर हमला कर दिया और गद्दाफी की हत्या कर वहां अपनी पिट्ठू सरकार बैठा दी। मिश्र में विद्रोह तानाशाह राष्ट्रपति होस्नी मुबारक को सत्ता से हटाने में कामयाब रहा पर उसके लगुए–भगुए सत्ता में बने रहे और अब वे चुनावों के माध्यम से अपने पंसदीदा लोगों को सत्ता में बैठाने में लगे हुए हैं।

अरब जगत में विद्रोहों के अलग–अलग हश्र के बावजूद समूचा अरब जगत अभी भी उथल–पुथल के दौर से गुजर रहा है। वहां किसी भी चीज ने स्थायित्व ग्रहण नहीं किया है। यहां तक कि सत्ता परिवर्तन वाले मिश्र, ट्यूनीशिया और लीबिया में भी चीजें उथल–पुथल भरे संक्रमण के दौर से गुजर रही हैं।

जब अरब जगत में विद्रोह हुए और ट्यूनीशिया तथा मिश्र के तानाशाह शासक सत्ता से बेदखल किये गये तो साम्राज्यवादियों के भोंफओं तथा पिछड़े पूंजीवादी देशों के उनके चाटुकारों ने एक सुर से यह राग अलापना शुरू किया कि ये विद्रोह अरब जगत की तानाशाहियों के खिलाफ विद्रोह हैं, कि जनतंत्र का अभाव इन विद्रोहों का कारण है, कि वहां जनतंत्र की स्थापना से सब शांत हो जायेगा। उन्होंने स्वयं के जनतांत्रिक होने का दम भरा तथा इस आधार पर इन विद्रोहों को अपने हितों में समेटने की कोशिश की। किसी जीन शार्प को जिसने कभी 'तानाशाही से जनतंत्र तक' नामक किताब लिखी थी, इन्होंने इन 'क्रांतियों' के मसीहा के तौर पर स्थापित करने का प्रयास किया।

लेकिन जल्दी ही उन्हें इस राग का सुर धीमा करना पड़ा क्योंकि स्वयं उनके यहां भी बड़े पैमाने के विरोध प्रदर्शनों की धमक सुनाई पड़ने लगी। दक्षिणी यूरोप के ग्रीस और स्पेन जैसे तीखे संकट ग्रस्त देशों से शुरू होकर ये विरोध प्रदर्शन बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका तक फैल गये।

यूरोप में बड़े पैमाने के विरोध प्रदर्शन मई–जून **2011** में हुए। इन्हें 'इंडिग्नोस' आंदोलन के नाम से जाना गया और इन्होंने अपना लक्ष्य घोषित किया 'असली जनतंत्र'। खासकर ग्रीस और स्पेन में हजारों–लाखों की संख्या में लोग शहरों के चौक में जम गये। स्पेन में एक समय करीब सौ शहरों के चौक में ये जमावड़े थे। सबसे बड़ा जमावड़ा राजधानी मैड्रिड में था जिसमें कभी लाखों की संख्या में लोग शामिल हुए। मैड्रिड का यह जमावड़ा करीब तीन हफ्ते रहा और इसके बाद यह गली–मोहल्लों में स्थानांतरित हो गया।

मिश्र के तहरीर चौक से प्रेरणा लेने वाले इस जमावड़े के आंदोलन ने घोषित किया कि उसका लक्ष्य 'असली जनतंत्र' है। इसके अनुसार वर्तमान जनतंत्र असल में बैंकपतियों और भ्रष्ट राजनीतिज्ञों का जनतंत्र है। इसमें जनता कहीं नहीं है। इसीलिए एक नया जनतंत्र, जनता का जनतंत्र, असली जनतंत्र कायम किया जाना चाहिए। इसने खासकर 'किफायत कदमों' के द्वारा आर्थिक संकट का बोझ मजदूर–मेहनतकश जनता पर डाले जाने का विरोध किया और कल्याणकारी कदमों की मांग की।

''इंडिग्नोस'' के 'असली जनतंत्र' की इस मांग को व्यापक पैमाने का समर्थन मिला खासकर **29** मई को यूरोपव्यापी प्रदर्शन बेहद सफल रहा जब केवल ग्रीस, स्पेन और इटली ही नहीं, फ्रांस और ब्रिटेन में भी बड़े विरोध प्रदर्शन आयोजित किये गये। इस बीच एक–दो दिन की कई आम हड़तालें विभिन्न देशों में आयोजित की गईं और अतिशय सफल रहीं।

'असली जनतंत्र' के लिए 'इंडिग्नोस' के इस आंदोलन का यह परिणाम निकला कि साम्राज्यवादी शासकों को बैंकपतियों एवं अन्य वित्तीय अधिपतियों के हित में 'किफायत कदम' उठाने में काफी अड़चनें आ गयीं। इसीलिए उन्होंने ग्रीस और इटली दो देशों में, जहां सरकारें ज्यादा वित्तीय संकट में थीं, वर्तमान जनतंत्र को भी किनारे कर वित्तीय पूंजी का सीधा शासन कायम कर दिया। भूतपूर्व वित्तीय अधिपतियों और उनके चाकरों की तथाकथित टेक्नोक्रेटिक सरकारें वहां कायम कर दी गईं। साम्राज्यवादियों ने जनतंत्र के प्रति अपनी पक्षधरता का नमूना पेश कर दिया।

जब तक 'इंडिग्नोस' का यह आंदोलन दक्षिण यूरोप के अपेक्षाकृत पिछड़े और संकटग्रस्त देशों तक सीमित था तब तक, फ्रांस और इंग्लैण्ड में इसकी मजबूत प्रतिध्वनि के बावजूद, अमेरिकी साम्राज्यवादी यह सोचते थे कि वे इस तरह के विरोध प्रदर्शनों से बच जायेंगे। वे फरवरी **2011** में विंसकोसिन के विधान सभा भवन पर मजदूरों के तीन हफ्रते के कब्जे के बावजूद यह खुशफहमी पाले हुए थे। वे विंसकोसिन की घटना को इक्का–दुक्का घटना मान रहे थे।

परन्तु उनका यह भ्रम सितंबर **2011** में टूट गया। एक छोटे से समूह के द्वारा यह आह्वान किया गया कि अमेरिका और सारी दुनिया में सारी समस्याओं की जड़ वित्तीय पूंजी के गढ़ वाल स्ट्रीट (न्यूयार्क) पर कब्जा कर लिया जाय। इसे 'आक्यूपाई वाल स्ट्रीट' का नाम दिया गया। यह कब्जा तहरीर चौक या मैड्रिड के प्यूएट्रा डी सोल की तरह होना था। **17** सितम्बर को वाल स्ट्रीट स्थित जुकोती चौक में कुछ लोगों द्वारा जमने के साथ शुरू हुआ यह आंदोलन देखते ही देखते पूरे अमेरिका में फैल गया। इसमें युद्व विरोधी, पर्यावरणवादी, नारीवादी इत्यादि भांति–भांति के लोग शामिल हो गये। मुख्यतः युवकों द्वारा शुरू किये गये इस आंदोलन में बाद में भारी मात्रा में मजदूर शामिल हो गये। जहां यूरोप के 'इंडिग्नोस' आंदोलन में शुरू में वर्तमान ट्रेड यूनियनों के प्रति एक हद तक विरोध और नकार का भाव था, वहीं 'आक्यूपाई' आंदोलन में सारे मजदूर संगठनों का स्वागत किया गया। 'इंडिग्नोस' के अपेक्षाकृत राजनीति विरोधी रुख के विपरीत 'आक्यूपाई' आंदोलन में राजनीतिक विचार–विमर्श ज्यादा मुखर था और अमेरिका के भांति–भांति के वामपंथियों ने इसमें शिरकत की। इस आंदोलन ने अपने आप को **1** प्रतिशत के बरखिलाफ **99** प्रतिशत का आंदोलन घोषित किया।

यह 'आक्यूपाई आंदोलन' एक नयी ऊंचाई तक तब पहुंचा जब **15** अक्टूबर को दुनिया भर के करीब **900** शहरों में एक साथ इसके समर्थन में विरोध प्रदर्शन आयोजित हुए। अंततः अमेरिकी साम्राज्यवादियों को उपेक्षा और नजरअंदाज करने का रुख छोड़कर अब इस आंदोलन की ओर ध्यान देना पड़ा। और तब इसे समाहित करने की कोशिशें शुरू हुयीं। दूसरी बार राष्ट्रपति बनने के इच्छुक बराक ओबामा ने इस आंदोलन के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। स्वयं वित्तीय अधिपतियों द्वारा व्हाइट हाउस में बैठाये गये इस व्यक्ति ने खुद को वित्तीय पूंजी के खिलाफ दिखाने की कोशिश की। डेमोक्रेटिक पार्टी ने आने वाले चुनावों में इस आंदोलन का इस्तेमाल करने की कोशिशें तेज कर दीं। इसमें जब उन्हें कुछ खास सफलता नही मिली तो फिर इस आंदोलन का दमन करना शुरू कर दिया। पार्कों में जमे 'आक्यूपाई' आंदोलनकारियों को वहां से खदेड़ा जाने लगा। इसके लिए न्यायालय के आदेशों से लेकर नगरपालिका कानूनों तक का सहारा लिया गया। विरोध करने वाले हजारों लोगों को गिरफ्रतार किया गया। सैकड़ों लोगों को बुरी तरह पीटा गया। इराक पर अमरीकी साम्राज्यवादियों के हमले में शामिल एक भूतपूर्व सैनिक की तो घायल होकर मृत्यु भी हो चुकी है। वह 'आक्यूपाई' आंदोलन का पहला शहीद है।

पार्कों में जमने से शुरू हुआ यह 'आक्यूपाई' आंदोलन अब छात्रों द्वारा अपना शिक्षा कर्ज अदा न करने, बैंकों द्वारा गृह ट्टण अदा न कर पाने पर कब्जाए गये घरों पर फिर कब्जा करने, बैंकों में जमा अपना पैसा निकालकर सहकारी संस्थाओं में जमा करने इत्यादि के आंदोलन तक फैल चुका है। अमेरिकी साम्राज्यवादी अब बेरोजगार अमेरिकी नवयुवकों तथा बदहाल मजदूरों को तथाकथित अमरीकी जीवन शैली और अमरीकी सपना इत्यादि के झुनझुनों से नहीं बहला सकते।

साम्राज्यवादी देशों में इन 'इंडिग्नोस' और 'आक्यूपाई' आंदोलनों के साथ दो गैर साम्राज्यवादी देशों में महत्वपूर्ण आंदोलनों का जिक्र करना जरूरी है। ये हैं इस्राइल का 'सामाजिक न्याय' का आंदोलन तथा चिली का शिक्षा के निजीकरण के खिलाफ आंदोलन। इस्राइल में 'सामाजिक न्याय' का 'तम्बू गाड़ो' आंदोलन तब शुरू हुआ जब जुलाई में एक नवयुवती ने बढ़े हुए मकान किरायों के प्रति अपना रोष जाहिर करने लिए सड़क पर अपना तंबू गाड़ लिया। देखते ही देखते तम्बू गाड़ो आंदोलन 'सामाजिक न्याय' की मांग के साथ एक देशव्यापी आंदोलन बन गया। इसने नवयुवकों और मजदूरों के गिरते जीवन स्तर को रेखांकित करते हुए इसमें बेहतरी की मांग की। इसने भी यूरोप के 'इंडिग्नोस' तथा अमेरिका के '**99** प्रतिशत' की तरह देश के सम्पत्तिवानों और भ्रष्ट पूंजीपतियों को हमले का निशाना बनाया। यह आंदोलन **3** सितम्बर को चरम पर पहुंच गया जब **77** लाख की आबादी में करीब **5** लाख लोगों ने सड़क पर उतर कर 'सामाजिक न्याय' के लिए प्रदर्शन किया।

चिली के छात्र और मजदूर इनसे भी आगे गये। इन्होंने मई से ही शिक्षा में निजीकरण को समाप्त करने के लिए आंदोलन शुरू किया। शुरुआत देश के दो प्रमुख विश्वविद्यालयों के छात्र संघों ने की। जल्दी ही इसमें मजदूर भी शामिल हो गये। इस आंदोलन ने शिक्षा में निजीकरण समाप्त करने से आगे बढ़कर आम तौर पर ही निजीकरण–उदारीकरण का विरोध करने का रूप धारण कर लिया। इसके तहत चिली में अब तक कई बार एक या दो दिन की आम हड़तालें आयोजित की जा चुकी हैं। अन्य जगहों के मुकाबले चिली के इस आंदोलन की विशेषता यह है कि इसमें आंदोलन की शुरुआत उन लोगों ने की जो वामपंथी राजनीति की किसी किस्म से जुड़े रहे हैं और इसमें देश के मजदूर संगठनों की सीधी भागीदारी रही है। इस तरह यह आंदोलन 'इंडिग्नोस' के गैर राजनीतिक रुख से काफी दूर रहा है। चिली के छात्र आंदोलन की युवा नेत्री स्वयं को गर्व से चिली की कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्य बताती है और बुर्जुआ प्रचारतंत्र के अनुसार वह इस समय चिली की सबसे प्रसिद्व कम्युनिस्ट है। दूसरे छात्र संघ का अध्यक्ष भी समाजवादी पार्टी से जुड़ा हुआ है।

चिली की तर्ज पर ही कोलंबिया में भी छात्र युवा आंदोलन सामने आया। पेरू में दिसम्बर माह में तो तथाकथित वामपंथी हुमाला की सरकार को, सोने व तांबे की खानों में अमेरिका सहित अन्य विदेशी देशों की खनन कम्पनियों को सौंपे जाने व आसन्न पर्यावरण खतरे के मद्देनजर उभरा जनांदोलन, वहां पहुंच गया जहां उन्हें पेरू के चार राज्यों में आपातकाल लगाना पड़ा।

इस अनुभाग का समापन करने से पहले भारत के अन्ना हजारे एण्ड कंपनी के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन का भी जिक्र कर देना समीचीन होगा। कुछ लोगों ने इसे भी उपरोक्त आंदोलनों की श्रेणी में रख उसे भी वैश्विक विद्रोहों और विरोधों का हिस्सा बताने का प्रयास किया है। यदि आम–अमूर्त तौर पर बात की जाय तो यह सच है। इसमें भी अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर जन भागीदारी हुई। इससे भी बड़ी बात यह कि इसकी कुछ प्रवृत्तियां यूरोप के 'इंडिग्नोस' आंदोलन से काफी मिलती हैं मसलन गैर राजनीतिक रुख, राजनेताओं के प्रति वैमनस्य रुख, गैर सरकारी संगठनों की भूमिका, राजनीतिक पार्टियों और अन्य संगठनों को आंदोलन से दूर रखना इत्यादि। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि इस आंदोलन का लक्ष्य उपरोक्त किसी भी आंदोलन या विद्रोह से बहुत नीचा रहा है। भारत की राजनीतिक–आर्थिक स्थितियां, जहां वैसे भी भांति–भांति के आंदोलन और विद्रोह विद्यमान हैं कहीं से भी ज्यादा ऊंचे लक्ष्य वाले आंदोलन के लिए अनुकूल हैं।

ऐसे में भ्रष्टाचार विरोधी अन्ना हजारे एण्ड कंपनी का आंदोलन वैश्विक आंदोलनों की श्रृंखला का हिस्सा होने के बदले उससे विच्युति ज्यादा है।

यहां यह रेखांकित कर देना होगा कि वर्तमान विश्व आर्थिक संकट के गहराने के साथ **2009** से यूरोप में छिट–फट आंदोलन शुरू हो गये थे। खासकर उत्तरी यूरोप के देशों–आइसलैण्ड व बाल्टिक देशों में ये ज्यादा मुखर रहे। समय के साथ संकट से ज्यादा तबाह देशों, मसलन पूर्वी यूरोप के देशों में ये बढ़ते गये। अब उपरोक्त आंदोलनों–संघर्षों ने इन सबको एक नये स्तर पर पहुंचा दिया है।

II निजीकरण–उदारीकरण–वैश्वीकरण के तीन दशक

इन विद्रोहों और आंदोलनों की पृष्ठभूमि में जो चीज समान है वह है पिछले तीन दशकों के दौरान निजीकरण–उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों के तहत मजदूर वर्ग एवं अन्य मेहनतकश जनता की तबाही। अलग–अलग देशों की अपनी विशेषताओं को यदि नजरअंदाज कर दें तो हम पाते हैं कि अरब जगत में जनतंत्र कायम करने के नारे के पीछे, 'इंडिग्नोस' के 'असली जनतंत्र' के नारे के पीछे, 'आकूपाई' आंदोलन के '**99** प्रतिशत बनाम **1** प्रतिशत' के नारे के पीछे, इस्राइल में 'सामाजिक न्याय' के नारे के पीछे तथा चिली में तो खुलेआम एक ही चीज मौजूद है : पिछले तीन दशकों की निजीकरण–उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों से पांव वापस खींचने और तथाकथित कल्याणकारी राज्य को फिर से स्थापित करने की मांग। मूलतः **1970** के पहले के दिनों की वापसी की मांग। और यह किसी हद तक स्वाभाविक है।

द्वितीय विश्व युद्व के बाद गठित पूंजी पर नियंत्रण और कुछ कल्याणकारी कदमों वाली व्यवस्था साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग के लिए दो–ढाई दशकों तक काफी माकूल रही। इसने एक ओर पूंजीवादी व्यवस्था को भांति–भांति के संकटों से बचाया तो दूसरी ओर पूंजीपति वर्ग के लिए ठीक–ठाक मुनाफे को भी सुनिश्चित किया। इसने भांति–भांति के मजदूर आंदोलनों को भी अपने में समाहित किया।

पर **1960** के दशक के अंत और **1970** के दशक की शुरुआत में इस व्यवस्था की सीमाएं उजागर होने लगीं। मुनाफे की दर गिरने लगी और निवेश का संकट बढ़ने लगा। इसने अपने आप को मुद्राओं के मूल्य में घट–बढ़ तथा सरकारी बजट के घाटे में तीव्र रूप में अभिव्यक्त किया। साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग के लिए क्रमशः स्पष्ट होने लगा कि तथाकथित कल्याणकारी राज्य की नीतियां अब उसके पूंजी संचय के रास्ते में बाधा बनने लगी हैं। और तब उसने इन्हें बदलने का काम शुरू कर दिया।

नयी नीतियों का सारतत्व एक थाः श्रमशक्ति की कीमत को गिराना तथा श्रम की सघनता और श्रम काल को बढ़ाना। तथाकथित उत्तर आधुनिक पूंजीवाद ने अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए अपना चिर स्थापित तरीका ही नये तरीके से इस्तेमाल किया। इसके अलावा वह कुछ और कर भी नहीं सकता था।

इसके लिए मुख्यतः तीन चार चीजें की गईं। पूंजी के आवागमन और निवेश पर लगे हुए भांति–भांति के प्रतिबंधों को हटाया गया। यह उत्पादन–वितरण और वित्त के सभी क्षेत्रों में किया गया। सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप को कम किया गया। यह सार्वजनिक उद्यमों के निजीकरण, सरकार द्वारा खरीद–फरोख्त में कमी, नियमन के कानूनों को ढीला करने, सरकारी राहत में कटौती इत्यादि के जरिये किया गया। मजदूर वर्ग को प्राप्त तनख्वाहों और सुविधाओं में कटौती की गई तथा उनके काम के घंटों और उनकी श्रम सघनता को बढ़ाया गया। इन सबको निजीकरण–उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों के तौर पर बाद में जाना गया।

साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग द्वारा अपने देशों समेत सारी दुनिया में इन नीतियों को लागू करने के लिए भांति–भांति के सिद्वान्त गढ़े गये जो झूठ और अर्द्व सत्य पर आधारित थे। ेडरिक वान हएक से लेकर मिल्टन ीडमैन तक इसके प्रस्तोता थे। इन्हें बाद में शिकागो स्कूल और वाशिंगटन कन्सेंशन नाम से भी प्रचारित किया गया। साम्राज्यवादियों द्वारा नियंत्रित संस्थाएं यथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन (पहले गैट) इनकी उत्साही प्रचारक और इन्हें सारी दुनिया में लागू करवाने वाली मुख्य संस्थाएं बनीं।

1970 के दशक में शुरू होकर इन नीतियों को गति तब मिली जब रोनाल्ड रीगन ने इन्हें संयुक्त राज्य अमेरिका में तथा मार्गरेट थैचर ने ब्रिटेन में जोर–शोर से लागू किया। तीसरी दुनिया के संकटग्रस्त देशों में भी इन्हें क्रमशः **1970** के दशक के उत्तरार्ध में और **1980** के दशक में लागू किया गया। यह गौरतलब है कि पिनोख्ते का चिली और सुहार्तो का इंडोनेशिया इन नीतियों को लागू करने वाले पहले देश थे।

उदारीकरण और अर्थव्यवस्था में सरकार द्वारा हस्तक्षेप में कमी का यह मतलब नहीं था कि वास्तव में सरकार का हस्तक्षेप कम हो जाता। पिछले तीन दशकों के आंकड़े यह दिखाते हैं कि साम्राज्यवादी देशों में सकल घरेलू उत्पाद में सरकार के हस्तक्षेप का प्रतिशत बहुत थोड़ा ही घटा है। कुछ देशों में तो यह बढ़ा भी है।

वास्तव में पिछले तीन दशकों में हुआ यह है कि पूंजीवादी सरकारों ने अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप पूरी तरह से पूंजी के पक्ष में करना शुरू कर दिया है। पूंजी की सेवा में सरकारें हर समय हाजिर हैं। इसके मुकाबले श्रम के पक्ष में हस्तक्षेप करने से उन्होंने हाथ खींच लिया है। यही नहीं, इन्होंने उल्टा किया है। उन्होंने मजदूर वर्ग को निचोड़ने–खसोटने में पूंजी की हर तरह से मदद की है। इसी को कुछ लोगों ने 'फायदा निजी, घाटा सार्वजनिक' का नाम दिया है। इसका पहला प्रयोग **1982** में लैटिन अमेरिका के ट्टण संकट में किया गया जब साम्राज्यवादी बैंकों की पूंजी की खातिर लैटिन अमेरिकी देशों के मजदूरों को निचोड़ा गया।

निजीकरण–उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों का यह परिणाम निकला कि साम्राज्यवादी पूंजी के मुनाफे की और निवेश की समस्या तात्कालिक तौर पर कुछ कम हो गयी। सारी दुनिया के मजदूरों को और ज्यादा निचोड़ कर तथा उनके जीवन स्तर को गिराकर और इसी के साथ छोटी सम्पत्ति वालों के अधिशेष और उनकी छोटी सम्पत्ति को हथियाकर पूंजीपति वर्ग ने अपने गिरते मुनाफे और पूंजी निवेश की समस्या कुछ हल की। इसके चलते एक ओर मजदूरों और अन्य मेहनतकशों के जीवन स्तर में तेज गिरावट आई वहीं पूंजीपति वर्ग की पूंजी खूब बढ़ी। पूरे समाज में गैर–बराबरी बढ़ी। ध्रुवीकरण और बढ़ा। यह प्रक्रिया कुछ इस रूप में घटित हुई कि एक ओर साम्राज्यवादी देशों में भी मजदूरों की बदहाली तेजी से बढ़ी तो दूसरी ओर पिछड़े पूंजीवादी देशों में भी खूब सम्पत्तिवान पूंजीपतियों का एक धड़ा पैदा हुआ। आपसी अंतर्विरोधों के बावजूद पूरी दुनिया के मजदूरों–मेहनतकशों को लूटने के मामले में साम्राज्यवादियों और पिछड़े पूंजीवादी देशों के इन पूंजीपतियों के हित एक हैं।

पूंजीपति वर्ग द्वारा अपने गिरते मुनाफे और पूंजी निवेश की समस्या को इस तरह से हल करने में ही यह निहित था कि तात्कालिक राहत के बाद यह समस्या और विकराल रूप में प्रकट हो। यही हुआ भी। पूंजीपति वर्ग ने अपने पूंजी संचय की समस्या का समाधान आम तौर पर मजदूर वर्ग की क्रयशक्ति को नीचे गिराकर किया था। इससे तो उत्पादित मूल्य को हासिल करने की और फिर उसके निवेश की समस्या और बढ़नी थी। इसी कारण पिछले तीन दशकों में एक के बाद एक और लगातार गहराती तीव्रता के आर्थिक संकट आने लगे।

इन संकटों से निपटने का काम पूंजीपति वर्ग ने दो तरीके से किया। एक तो मजदूर–मेहनतकश जनता के शोषण को और ज्यादा तीव्र करके तथा दूसरा इफरात पूंजी को लगातार सट्टेबाजी की ओर ढकेलकर जो अपनी बारी में फिर अपना बोझ मजदूर–मेहनतकश जनता पर डालती।

इन दोनों तरीकों से अपने मुनाफे को बढ़ाकर और पूंजी निवेश की समस्या को किंचित हल कर पूंजीपति वर्ग ने सोचा कि यह ऐसे ही चलता रह सकता है। पर यह तो समस्या का कोई समाधान था नहीं। यहां तो बस था भविष्य में और विकराल संकट का पूर्वाधार तैयार कर तात्कालिक तौर पर कुछ राहत पा लेना।

यह सब कुछ अनिश्चित काल तक नहीं चल सकता इसका एक संकेत **1997.98** के पूर्वी एशियाई देशों के संकट, **1998** के एल टी सी एम के संकट तथा फिर **2001** में डॉट काम बूम के ध्वस्त होने में मिला। पर मुनाफे के प्यासे साम्राज्यवादी और पूंजीपति भला इससे कब पीछे हटने वाले। उन्होंने उसी रास्ते पर और तेज रफ़्तार से चलना जारी रखा।

और तब आया **2007** का संकट। पिछले तीन दशकों से इकट्ठा होता हुआ लावा भंयकर ज्वालामुखी के रूप में फूट पड़ा। जैसा कि होता है, पूंजीपति वर्ग ने शुरुआत में तो यही सोचा कि यह पहले की तरह का एक तात्कालिक संकट मात्र है और साल–दो साल में हालात फिर सामान्य हो जायेंगे। लेकिन सितम्बर–अक्टूबर **2008** में उन्हें समझ में आया कि मामला संगीन है। तब उनके हाथ–पांव फूल गये। उन्होंने अपने पूरे राज्य की ताकत को झोंककर अर्थव्यवस्था को ध्वस्त हो जाने से बचाया। एक आकलन के अनुसार सरकारों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष तौर पर करीब बीस हजार अरब डालर लगाये इस संकट में। ध्यान रखने की बात है कि इस समय पूरी दुनिया का सकल घरेलू उत्पाद करीब **60** हजार अरब डालर है।

लेकिन सरकारें पैसे किसी पेड़ पर तो उगाती नहीं। पूंजीपति वर्ग को बचाने के लिए इतना पैसा लुटाने के बाद उन्हें इसे फिर कहीं से तो वसूलना ही था। और उन्होंने इसे मजदूर वर्ग से वसूलना शुरू कर दिया, उस मजदूर वर्ग से जो पिछले तीन दशकों में तथा फिर इस संकट के दौरान खस्ताहाल हो चुका था। यह तो मजदूर वर्ग को सीधी छुरी से रेतने के बाद अब उल्टी छुरी से रेतने की बात थी। 'मुनाफा निजी और घाटा सार्वजनिक' की नीति अब आसमान छूते स्तर पर लागू की जाने लगी।

पर हालात अब पहले वाले तो थे नहीं। मजदूर वर्ग को निचोड़ने की सीमा को पहले ही काफी आगे तक बढ़ाया जा चुका था। भंयकर बदहाली और बेरोजगारी के आलम में उस पर और बोझ लादने का मतलब उसकी सहन शक्ति सीमा को लांघ जाना था पर पूंजीपतियों की सरकारें क्या करती? पूंजीपतियों को बचाने के लिए जो कर्ज उन्होंने अपने ऊपर ओढ़ा था उसकी भरपाई कहां से करतीं? और ऊपर से तुर्रा यह कि सट्टेबाज पूंजी ने, जिसे बचाते–बचाते सरकारें इस हालत में पहुंची थीं, अब इन सरकारों पर ही दांव लगाना शुरू कर दिया। दांव इस बात का कि ये सरकारें कब दिवालिया होंगी।

इस तरह पूंजीपति वर्ग और उनकी सरकारें समूची दुनिया को वहां ले आयी हैं जहां वे उसे विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों की ओर ढकेल रही हैं। पूंजीपति वर्ग के उत्पादन–वितरण के उद्यम तथा खासकर वित्तीय संस्थान दिवालिया होने के कगार पर खड़े हैं। साम्राज्यवादी देशों की सरकारें दिवालिया होने के कगार पर खड़ी हैं। मजदूर वर्ग और मेहनतकश जनता के ज्यादातर हिस्से को तो इन दोनों ने पहले ही रसातल में पहुंचा दिया है। अब वे इस भंयकर स्थिति से कैसे बाहर निकलें? मुनाफे की एकमात्र हवस वाले पूंजीपति वर्ग तथा उसकी सरकारों को एक ही रास्ता सूझता है– मजदूरों और मेहनतकशों को और निचोड़ो। लेकिन वह तो पहले ही हद से ज्यादा निचोड़ा जा चुका है। इसके बाद उसे और निचोड़ने का मतलब है उसे इस समूचे निचोड़ने के व्यवसाय के खिलाफ विद्रोह के लिए ढकेलना। और अब लाखों–लाख बेरोजगार नौजवान तथा मजदूर सड़कों पर हैं।

III पुरानी मजदूर पार्टियां और संगठन

मजदूर वर्ग और बेरोजगार नौजवानों के लाखों–लाख की संख्या में इस तरह सड़कों पर उतर आने पर यह स्वाभाविक लगता है कि मजदूरों में एक लम्बे समय से काम कर रही और उनमें आधार वाली पार्टियां (कम्युनिस्ट, समाजवादी और सामाजिक जनवादी पार्टियां) तथा मजदूर यूनियनें और फेडरेशन इनका नेतृत्व करते। पर ऐसा नहीं हो रहा है। ये विद्रोह तथा विरोध प्रदर्शन स्वतः स्फूर्त हैं और पहले की स्थापित पार्टियों और यूनियनों से स्वतंत्र हैं। यही नहीं, इनमें इनसे स्वतंत्र रहने की एक गहरी प्रवृत्ति मौजूद है। इसी के साथ गैर राजनीतिक रहने की भी। इन सबके चलते स्थापित पार्टियों और मजदूर यूनियनों की भूमिका अधिकांशतः दर्शक की बन जाती है। जब इनके द्वारा समय–समय पर एक या दो दिनों की हड़ताल आयोजित की जाती है तो यह इन आंदोलनों से किसी हद तक विच्छिन्न होती है। इन सब प्रवृत्तियों के निश्चित ऐतिहासिक कारण हैं।

मजदूरों में काम करने वाली पार्टियां और उनसे जुड़ी हुई ट्रेड यूनियनें तथाकथित कल्याणकारी राज्य के जमाने में उस 'कल्याणकारी राज्य' का अभिन्न हिस्सा बन गईं। दूसरी इंटरनेशनल की वारिस समाजवादी तथा सामाजिक जनवादी पार्टियां तो पहले ही पूंजीपति वर्ग की योग्य सेवक बन गई थीं। अब **1950** के दशक से ही कम्युनिस्ट पार्टियां भी उसी रास्ते पर चल पड़ीं। सोवियत संघ में दृश्चोव के आगमन और वहां तथा पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों में पूंजीवादी फनर्स्थापना के पहले ही इसका आधार बनना शुरू हो गया था और दुश्चोव के अवतरण के साथ यह प्रक्रिया एक झटके में सम्पन्न हो गई।

पूंजीवादी व्यवस्था में पूर्णतया समाहित होकर ये पार्टियां और उनसे जुड़े मजदूर फेडरेशन एकदम पालतू बन गये। वे मजदूर वर्ग के अभिजात हिस्सों के लिए कुछ खैरात जुटाते हुए पूंजीपति वर्ग की सेवा करते रहे। वक्त के साथ वे इस हद तक सुविधा परस्त हो गये कि मजदूर वर्ग के जुझारू ट्रेड यूनियन संघर्ष के लायक भी नहीं बचे।

और जब **1970** के दशक से पूंजीपति वर्ग ने मजदूर वर्ग पर हमला बोला तो वे इस हमले का प्रतिरोध करने के बदले इस हमले में शामिल हो गयीं। यह याद रखने की बात है कि इन तीन–चार दशकों में मजदूरों में आधार वाली पार्टियां भी लगभग उतनी ही बार और उतने ही समय के लिए सत्ता में रही हैं जितना कि अन्य पार्टियां। इन पार्टियों ने भी 'वैश्विक अर्थव्यवस्था' की दुहाई देते हुए या अन्य मजबूरियां गिनाते हुए मजदूर वर्ग विरोधी नीतियों को उतने ही जोर–शोर से लागू किया। पूंजीपति वर्ग के राज्य का संचालन करते हुए वे इसके अलावा कुछ कर भी नहीं सकती थीं।

यह गौरतलब है कि पहले **1956** में बड़े झटके और फिर **1976** में माओ के मरने के बाद चीन में पूंजीवाद की फनर्स्थापना हो जाने के बाद न केवल समाजवादी खेमा खत्म हो गया बल्कि समूचा कम्युनिस्ट आंदोलन बिखर गया। **13** देशों में समाजवाद और **81** देशों में बड़ी कम्युनिस्ट पार्टियों वाला विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन अब सभी देशों में छोटे–छोटे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी ग्रुपों तक सिमट गया।

इससे न केवल विश्व पूंजीवाद बहुत उत्साहित और आक्रामक हो उठा बल्कि इसने पतित मजदूर पार्टियों की सौदेबाजी की क्षमता को भी बहुत सीमित कर दिया। तात्कालिक तौर पर पूंजीपति वर्ग से पराजित मजदूर वर्ग पीछे हट रहा था और ऐसे में पहले ही पूंजीवाद में

समाहित हो चुकी तथा पूंजीपति वर्ग की सेवा में प्रस्तुत हो चुकी पार्टियां मजदूरों के आर्थिक हितों की रक्षा नहीं कर सकती थीं। रही सही कसर तब पूरी हो गई जब **1980** के दशक के अंत में सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में भी ढके–छुपे राजकीय पूंजीवाद के बदले छुट्टा पूंजीवाद स्थापित हो गया। अब तो भांति–भांति के सामाजिक जनवादियों ने भी अपना चोला बदल लिया।

ऐसे में पूंजीपति वर्ग के लगातार हमले के सामने मजदूर वर्ग न केवल बेतरतीब ढंग से पीछे हटता गया बल्कि वह उतना भी प्रतिरोध नहीं कर पाया जितना कर सकता था। लाखों की संख्या वाली ट्रेड यूनियन फेडरेशनें अनुष्ठानिक तौर पर समय–समय पर विरोध प्रदर्शन आयोजित कर मजदूर वर्ग को बहलाती–फुसलाती रहीं। इससे निराशा और पस्तहिम्मती कम होने के बदले केवल बढ़ती ही थी। बेबसी और क्षोभ से भरा हुआ मजदूर वर्ग इन पार्टियों और यूनियनों से किनारा करता हुआ अपने–आप में सिमटता रहा।

इन सबके चलते मजदूर वर्ग में काम करने वाली इन पार्टियों और फेडरेशनों के प्रति नकार और किसी हद तक नफरत का भाव पैदा हुआ। इसी के साथ इनकी राजनीति के प्रति भी। व्यापक मजदूर वर्ग ने अपने अनुभव और सहज चेतना से ठीक ही समझा कि ये पार्टियां और मजदूर यूनियनें उनके हित में नहीं हैं। वे पूंजीपति वर्ग के साथ हैं।

इसीलिए जब मजदूर वर्ग और मजदूर वर्ग के बेरोजगार नौजवान सड़कों पर उतरे तो उन्होंने इन पार्टियों और यूनियनों का नेतृत्व स्वीकार नहीं किया। यही नहीं, वे कमोबेश इनसे दूर या इनके खिलाफ रहे।

IV विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों की व्याख्याएं

इन विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों की पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थकों और विरोधियों के द्वारा अलग–अलग तरह से व्याख्याएं की गई हैं। कहने की बात नहीं कि इन व्याख्याओं में विभिन्न वर्गों के हित अभिव्यक्त होते हैं।

जब अरब जगत में विद्रोह शुरू हुए तो साम्राज्यवादियों और पूंजीवादी व्यवस्था के उनके चाटुकारों द्वारा यह प्रचारित किया गया कि यह अरब जनता की जनतांत्रिक चाहतों की अभिव्यक्ति है। कहा गया कि इन देशों में लोग तानाशाहियों के तहत जी रहे हैं जिससे जनता मुक्ति चाहती है और इसीलिए विद्रोह कर रही है। महत्वपूर्ण बात यह है कि जो साम्राज्यवादी इस बात को प्रचारित कर रहे थे वे स्वयं इन तानाशाहियों के सबसे बड़े समर्थक थे। बल्कि इनमें से कुछ सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी यानी शेखशाहियां इन्हीं के बल पर टिकी हुई थीं। मजे की बात यह है कि कतर के अमीर के मालिकाने वाला टी वी चैनल अलजजीरा इसका सबसे मुखर भोंपू बना हुआ था।

साम्राज्यवादियों के प्रचारकों ने इन विद्रोहों के शुरुआती दिनों में एक गुमनाम से व्यक्ति जीन शार्प को खूब उछाला और घोषित किया कि उसकी किताब 'तानाशाही से जनतंत्र तक' ने विद्रोहियों को प्रेरित किया और दिशा दी। सच्चाई यह है कि इस व्यक्ति और उसकी किताब को अमेरिकी गुप्तचर संस्था सी आई ए के मुखौटे के तौर पर काम करने वाली संस्थाओं, जो जनतंत्र का प्रचार करने का दम भरती हैं, द्वारा प्रसारित किया गया था। यह साम्राज्यवादियों की दूसरी सुरक्षा पंक्ति की नीति का हिस्सा था जिसके तहत वे अपने पालतू तानाशाहों के विरोधियों को पालते–पोसते रहे जिससे तानाशाहियों के खिलाफ विद्रोह के समय ये काम आ सकें। अपनी विरोधी सत्ताओं के खिलाफ तो साम्राज्यवादियों द्वारा इनका इस्तेमाल किया ही जाता रहा है।

इस तरह तानाशाहियों के खिलाफ जनतांत्रिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के तौर पर इसे व्याख्यायित करके साम्राज्यवादियों द्वारा वैचारिक तौर पर इन विद्रोहों को समटने की कोशिश की गई। इसमें हिंसा–अहिंसा के सवाल को भी उठाकर उन्होंने शासकीय हिंसा के समक्ष विद्रोही जनता को निहत्था बनाये रखने का षड्यंत्र रचा। सच्चाई यह है कि अरब जगत में जिस एक देश में सत्ता में कोई वास्तविक परिवर्तन हुआ वह लीबिया था। और वहां यह पूर्णतया हिंसा के द्वारा हासिल किया गया। बस यह हिंसा साम्राज्यवादियों ने की। साम्राज्यवादियों ने हिंसा के द्वारा गद्दाफी की सत्ता को ध्वस्त कर दिया और गद्दाफी को मार डाला। अब वे वहां अपने पिट्ठुओं की नयी सत्ता कायम कर रहे हैं। इसके मुकाबले मिश्र और ट्यूनीशिया में सत्ता वही बनी रही बस सत्ता के कुछ व्यक्ति बदल गये। इस तरह स्वयं साम्राज्यवादियों ने व्यवहार से प्रमाणित किया कि बिना हिंसा के कोई वास्तविक बदलाव संभव नहीं है। अपने विरोधी बशीर असद के खिलाफ सीरिया में वे यही करने का प्रयास कर रहे हैं। यही नहीं बहरीन में हिंसा के द्वारा विरोध प्रदर्शनों को कुचला जा रहा है। जनता को शांति का पाठ पढ़ाना और स्वयं टैंकों और बम वर्षक जहाजों का इस्तेमाल करना शासकों की फरानी नीति रही है।

विरोध प्रदर्शनों की लहर जब साम्राज्यवादी देशों में पहुंची तो साम्राज्यवादियों द्वारा इसे जनतांत्रिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के रूप में प्रचारित करना संभव नहीं रह गया। तब उन्हें मजबूरी में स्वीकार करना पड़ा उनके समाजों में बढ़ती बदहाली और विषमता का इनसे कोई लेना–देना है। वारेन–बफेट और जार्ज सोरोस जैसे बड़े सट्टेबाज तब सामने आये और सरकारों से मांग की कि आर्थिक संकट का थोड़ा बोझ धनी–मानी लोगों पर भी डाला जाये। इसमें भाव यह निहित था कि आर्थिक संकट के दौर में सारा बोझ मजदूरों पर डाल देने से ही ये विरोध प्रदर्शन मुखर हो रहे हैं। यदि इसे थोड़ा कम कर दिया जाय तो स्थिति सामान्य हो सकती है। यह छुट्टे पूंजीवाद को बनाये रखते हुए, उदारीकृत पूंजीवाद के भीतर कुछ नियमन और जनता को कुछ खैरात बांटने की मांग थी।

साम्राज्यवादी व्यवस्था के जोसेफ स्टिगलिज और पाल क्रुगमैन जैसे लोगों ने जो एक लम्बे समय से 'कल्याणकारी राज्य' के पूर्ण खात्मे का विरोध करते रहे हैं और इसी आधार पर उदारीकरण–वैश्वीकरण का विरोध करते रहे हैं, इसे अपनी बातों के सही होने का प्रमाण माना। उन्होंने संकट के गहराने पर सरकारों के द्वारा ज्यादा खर्चों की मांग की तथा बाद में सरकारों द्वारा बजट घाटा कम करने के लिए खर्चों में कटौती का विरोध किया। इन्होंने महामंदी के समय की 'न्यू डील' किस्म की किसी नयी योजना या नीति की मांग की। इन्होंने आम तौर पर किसी किस्म के 'कल्याणकारी राज' की वापसी की वकालत की। साम्राज्यवादियों द्वारा नियंत्रित लेकिन दुनिया भर के गरीब लोगों के प्रति संवेदनशीलता का दिखावा करने वाली संयुक्त राष्ट्र संघ की आम सभा ने भी मोटा–मोटी यही रुख अपनाया। यह अपने सारतत्व में निजीकरण–उदारीकरण–वैश्वीकरण के पिछले तीन–चार दशकों के अभियान को रोकने और किसी हद तक उसे वापस करने की सोच है जो 'वैश्वीकरण' के 'फायदों' को बनाये रखना चाहती है और जो पूंजीवादी व्यवस्था के दूरगामी भविष्य को लेकर बेहद चिंतित है।

वामपंथ की ओर से इन विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों का आम तौर पर स्वागत हुआ पर इसमें विभिन्न किस्म के वाम विचारों के अनुसार ही इसकी व्याख्यायें की गईं। संशोधनवादी कम्युनिस्ट और सामाजिक–जनवादी पार्टियों ने इस उभार का समर्थन करते हुए, इसे समेटने की कोशिश की परन्तु इनके प्रति आम तौर पर नकारात्मक रुख रहने के चलते इन्हें सफलता नहीं मिली। यही नहीं, जहां ये सत्तानशीन थीं वहां तो उन्होंने विरोध–प्रदर्शनों का दमन ही किया।

इनके मुकाबले कुछ वाम चिंतकों ने, जो एक लम्बे समय से सोवियत किस्म के समाजवादी समाजों और लेनिनवादी वसूलों पर आधारित कम्युनिस्ट पार्टियों के विरोधी रहे हैं, उन्होंने इन विरोध प्रदर्शनों में अपने विचारों की स्वीकृति देखी। उन्होंने 'नेताविहीन' जन आंदोलन की प्रशस्ति के गुण गाये। कुछ इस रूप में प्रस्तुत किया गया कि 'नेताविहीन' और श्रेणीक्रम पर आधारित संगठन विहीन आंदोलन ज्यादा बेहतर परिवर्तन लाएंगे क्योंकि इनमें वास्तव में जनवाद काम कर रहा है और करेगा।

वास्तविकता यह है कि 'नेताविहीन', 'संगठन विहीन' ये स्वतः स्फूर्त आंदोलन बहुत छोटे–छोटे समूहों द्वारा सख्ती से नियंत्रित किये जाते रहे हैं। और अक्सर ही ये समूह पूर्ण स्वेच्छाचारी और निरंकुश हैं। ये चुने हुए नहीं बल्कि स्वनियुक्त होते हैं और किसी सांगठनिक ढांचे के अभाव में इन पर कोई नियंत्रण नहीं होता। इस तरह यहां बात ठीक उल्टी है। भारत की अन्ना हजारे एण्ड कंपनी अथवा 'टीम अन्ना' इसका प्रातिनिधिक उदाहरण है। अन्य जगहों पर भी इसी की किस्में विद्यमान हैं।

असल में इन आंदोलनों से ठीक उल्टी बात प्रमाणित होती है। आज संगठन और योजनाबद्धता का महत्व और भी बढ़ गया है। लेनिन ने पेशेवर क्रांतिकारियों पर आधारित एक सुगठित पार्टी की जो अवधारणा रखी थी वह आज और ज्यादा मौजू साबित हो रही है। इन विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों में छोटे–छोटे नेतृत्वकारी समूहों ने जो निर्णायक भूमिका अदा की है, उससे यह स्पष्ट है।

इन विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों में युवकों की बड़ी भागीदारी को देखते हुए कुछ ने इसे **1967–68** के दुनिया भर में युवकों के विद्रोह की अगली कड़ी के रूप में ही देखा है। लकिन यहां संदर्भ बिलकुल आंखों से ओझल कर दिया जाता है। तब 'कल्याणकारी राज' का चरम बिन्दु था, आज छुट्टे पूंजीवाद का चरम बिंदु है। तब वाम की ओर बड़ी–बड़ी सुगठित पार्टियों का बोलबाला था, आज ऐसी पार्टियां नदारद हैं या शक्तिहीन। तब भांति–भांति की आचार संहिताओं से मुक्ति नवयुवकों की प्रमुख मांग थी आज प्रमुख मांग जिंदगी की मूलभूत जरूरतें हैं। स्पेन के 'इंडिग्नोस' में शामिल नवयुवकों में **40–45** प्रतिशत बेरोजगार हैं।

इस तरह आज के विद्रोही नवयुवक की आकांक्षाएं सांस्कृतिक आकांक्षाएं नहीं हैं। इनके आंदोलन जिंदा रहने के लिए संघर्ष की अभिव्यक्तियां हैं। और यहां पर समूची पूंजीवादी व्यवस्था के संदर्भ में उनके विद्रोह का महत्व बहुत बढ़ जाता है।

जहां तक कम्युनिस्ट क्रांतिकारी खेमे की बात है वह एक लम्बे समय से क्रांति की एक खास किस्म की मंसूबेबाजी में व्यस्त है। उसका ज्यादातर हिस्सा विश्व इंकलाब की अपनी एक खास किस्म की समझदारी, जिसे वह नव जनवादी क्रांति कहता है तथा जिसे चीन की क्रांति के मॉडल पर आधारित करने की जी–जान से कोशिश करता है, से संचालित है। उसकी व्यावहारिक गतिविधियां इसी समझदारी से संचालित होती हैं। लेकिन इससे भी बड़ी बात यह है कि वैचारिक तौर पर इंकलाब की इसकी सोच इस समझदारी से बहुत बुरी तरह एक निश्चित रूढ़ सीमाओं में आबद्व हो जाती है।

ऐसे में कम्युनिस्ट क्रांतिकारी खेमा स्वाभाविक तौर पर इन विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों के विश्व ऐतिहासिक महत्व को समझने और उस पर अपने को आधारित करने में अक्षम हो जाता है। वह ज्यादा से ज्यादा संघर्षों में जनता के उतरने का अभिनंदन करता है। लेकिन चूंकि ये विद्रोह और विरोध प्रदर्शन क्रांति की उसकी स्कीम में कहीं नहीं बैठते इसीलिए इनका विश्व ऐतिहासिक महत्व अनदेखा रह जाता है। यह एकदम ही आंखों से ओझल रहता है कि दुनिया एक नये चरण में प्रवेश कर चुकी है और ये विद्रोह और विरोध–प्रदर्शन इस नये चरण में इंकलाब की दिशा के संकेत सूचक हैं। इसी से इनके प्रति एक तरह की वैचारिक निस्संगता और व्यावहारिक निष्क्रियता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कम्युनिस्ट क्रांतिकारी खेमा अपनी वैचारिक जड़ता के कारण क्रांति की नयी वैश्विक प्रवृत्तियों को देखने में अक्षम हो रहा है।

v विद्रोह, विरोध प्रदर्शन और शासक वर्ग

कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन भले ही तीन–चार दशक से पहले की दुनिया में अटका हुआ हो परन्तु साम्राज्यवादी और दुनिया भर के अन्य पूंजीपति इस तरह गाफिल नहीं रहे हैं। उन्होंने पूरी सजगता के साथ अपनी व्यवस्था की रक्षा के लिए भांति–भांति के नये बन्दोबस्त किये हैं।

जब तीन दशक पहले साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग ने 'कल्याणकारी राज्य' को खत्म कर छुट्टा पूंजीवाद कायम करने की ओर कदम बढ़ाये तथा इसके लिए मजदूर वर्ग और अन्य मेहनतकश जनता पर जबर्दस्त हमले किये तभी उसके लिए स्पष्ट था कि वक्त के साथ यह मजदूर मेहनतकश जनता की ओर से तीखे प्रतिरोध को जन्म देगा। जैसे–जैसे मजदूर–मेहनतकश जनता की बदहाली बढ़ेगी वैसे–वैसे यह प्रतिरोध बढ़ता जायेगा। यह विद्रोहों और क्रांतियों की ओर भी जा सकता है।

इसे रोकने के लिए उन्होंने शुरू से ही प्रयास किये। यह वैचारिक और व्यवहारिक दोनों स्तरों पर किया गया।

वैचारिक तौर पर उन्होंने मजदूर वर्ग की विचारधारा मार्क्सवाद पर धुंआधार हमले किये। ये हमले चौतरफा थे और इसमें कम्युनिस्ट आंदोलन के गद्दारों तथा भूतपूर्व मार्क्सवादियों का जमकर इस्तेमाल किया गया। 'नव वाम' से लेकर उत्तर आधुनिकतावाद तक की नयी विचार श्रेणियां गढ़ी गई। फराने समाजवादी समाजों और फराने कम्युनिस्ट आंदोलन को यथासंभव बुरे रूप में पेश किया गया। कोशिश की गई कि कुछ ऐसी वैचारिक फिजां बना दी जाय कि पूंजीवादी व्यवस्था के घोर संकट के समय में भी लोग मार्क्सवादी विचारधारा और कम्युनिज्म की ओर न लौटें।

इसी के साथ व्यावहारिक तौर पर बहुत कुछ किया गया। संगठित मजदूर आंदोलन के विरोध में भांति–भांति के पहचानों के आंदोलन खड़े किये गये या उन्हें प्रोत्साहित किया गया। जहां पहले का कम्युनिस्ट और मजदूर आंदोलन इन्हें अपने तहत समेटता था वहां अब पूंजीपति वर्ग ने इन्हें कम्युनिस्ट और मजदूर आंदोलन के खिलाफ खड़ा कर दिया। यही नहीं, इन्हें ही सच्चा आंदोलन घोषित किया गया। इसके लिए पूंजीपति वर्ग ने धन और संसाधन मुहैय्या करवाये। विश्वविद्यालयों में इसके लिए विभाग खोले गये तथा फेलोशिप की व्यवस्था की गई। कई स्वतंत्र शोध संस्थान खड़े किये गये। इनके संबंधित व्यवहारिक मुद्दों को उठाने के लिए ढेरों गैर सरकारी संगठनों को खड़ा किया गया। इस सबके द्वारा पूंजीपति वर्ग इतना सफल हुआ कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी खेमा भी इसके वैचारिक दबाव में आकर किसी हद तक इसके सामने समर्पण करने लगा।

इतना ही नहीं हुआ। पूंजीपति वर्ग ने पूरी दुनिया के पैमाने पर गैर सरकारी संगठनों का एक पूरा जाल खड़ा किया। इसके लिए पूंजीवादी सरकारों से लेकर पूंजीपतियों तक ने धन मुहैय्या करवाया। दुनिया के बड़े–बड़े अरबपति जो दान–दक्षिणा का काम करते हैं, उसका पैसा इन्ही गैर सरकारी संगठनों को मिलता है। अकेले भारत में ही **33** लाख गैर सरकारी संगठन हैं जिसमें कम से कम आधे आधुनिक तरह के गैर सरकारी संगठन होंगे।

पूंजीपति वर्ग और उनकी सरकारों द्वारा पोषित इन गैर सरकारी संगठनों ने उन जगहों पर अपने पैठ बनायी है जहां कभी कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन मौजूद होते थे। उन्होंने आदिवासियों, किसानों से लेकर मजदूरों तक हर जगह अपने हाथ–पांव फैलाए हैं।

इन गैर सरकारी संगठनों की दोहरी भूमिका रही है। एक ओर तो ये कुछ राहत प्रदान कर बदहाल जनता में पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति असंतोष को कुछ कम करते थे तथा दूसरी ओर ये इस असंतोष को व्यवस्था के दायरे में अभिव्यक्त होने का जुगाड़ करते थे। लेकिन इनकी एक और भी दूरगामी भूमिका थी मजदूर मेहनतकश जनता में अपनी व्यापक पैठ के कारण ही ये व्यापक विद्रोहों के समय विद्रोही जनता को भटकाने के लिए पूंजीवादी शासक वर्ग के लीवर का काम कर सकते थे।

इस तरह के एक लीवर को खड़ा करने का एक प्रयास पूंजीपति वर्ग के एक धड़े द्वारा विश्व सामाजिक मंच के तौर पर किया गया था। ध्यान देने की बात है कि यह प्रयास **1997–98** के एशियाई संकट तथा **2000** के 'डॉट काम बूम' के बाद किया गया था। विश्व

सामाजिक मंच नाम का यह लीवर मूलतः गैर सरकारी संगठनों को लेकर गठित किया गया था। इसे गठित करने में यूरोप के कुछ सुधारवादी साम्राज्यवादी और ब्राजील की वर्कर्स पार्टी ने पहल–कदमी ली थी। इसने 'एक नयी दुनिया संभव है' के नारे के तहत वास्तव में आने वाले तूफान की हवा निकाल देने का या फिर तूफान आ ही जाये तो उसे पूंजीपति वर्ग के हितों के अनुरूप ढाल देने का लक्ष्य रखा था। कुछ सालों तक पूंजीपति वर्ग ने इसे खूब प्रचारित किया। हालांकि **200–08** के संकट के समय तक यह फैशन में नहीं रह गया था पर इसके द्वारा किये गये कुछ बुनियादी काम ने **2011** के विरोध प्रदर्शनों में अपनी भूमिका अदा की।

जैसा कि पहले इंगित किया गया है, एक चिली को छोड़कर ज्यादातर जगहों पर विरोध प्रदर्शनों को आयोजित करने में गैर सरकारी संगठनों ने केन्द्रीय भूमिका निभाई है। यहां तक कि ट्यूनीशिया और मिश्र में भी गैर सरकारी संगठनों ने ही शुरुआती विरोध प्रदर्शनों का आयोजन किया। इन्हें सी आई ए द्वारा नियंत्रित साम्राज्यवादी संस्थाओं से प्रशिक्षण मिला हुआ था। भारत में 'टीम अन्ना' भी ऐसे ही गैर सरकारी संगठनों का जमावड़ा है और इन्हें भी अमेरिकी गैर सरकारी संगठनों द्वारा प्रशिक्षण मिला है। इनके आंदोलन में सारे कर्ता–धर्ता गैर सरकारी संगठनों के कारकुन हैं।

इस तरह विश्व पूंजीवाद के खिलाफ उठ खड़े हो रहे विद्रोहों ओर विरोधों को साम्राज्यवादी और पिछड़े देशों के पूंजीपति अपने द्वारा पालित–पोषित गैर सरकारी संगठनों द्वारा नियंत्रित–निर्देशित करने का प्रयास कर रहे हैं। इन आंदोलनों में 'गैर राजनीतिक' प्रवृत्ति का मूल सांगठनिक स्रोत भी ये गैर सरकारी संगठन ही हैं।

एक ओर साम्राज्यवादी अपने द्वारा पालित–पोषित गैर सरकारी संगठनों के माध्यम से इन विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों को नियंत्रित निर्देशित करने का प्रयास कर रहे हैं दूसरी ओर कई जगहों पर ये इनका इस्तेमाल भी कर रहे हैं। लीबिया में उन्होंने इसका इस्तेमाल कर कर्नल गद्दाफी को मार डाला तथा वहां अपनी पिट्ठू सरकार बैठा दी। सीरिया में भी वे इसी का प्रयास कर रहे हैं। दूसरी ओर जहां वे इस हद तक सफल नहीं हो रहे हैं वहां वे 'दूसरे सबसे अच्छे' विकल्प को आजमा रहे हैं मसलन मिश्र व ट्यूनीशिया में नरम–गरम इस्लामपंथियों को।

लेकिन यह सब अभी तात्कालिक है। विश्व पूंजीवाद के संकट के और गहराने पर ये तात्कालिक समाधान नाकाफी होने लगेंगे। गैर सरकारी संगठनों का जो ताना–बाना इतना सफल हो रहा है वह तार–तार होने लगेगा। तब साम्राज्यवादियों एवं अन्य पूंजीपतियों के सामने बस दो ही विकल्प बचेंगे। एक ओर वे विद्राहों और विरोध प्रदर्शनों का तीखा दमन करेंगे तथा दूसरी ओर 'कल्याणकारी राज' की ओर किसी हद तक वापस आयेंगे। भांति–भांति के झांसे और नुस्खों के असफल हो जाने के बाद अन्त में उन्हें शासक वर्गों की फरानी नीति पर वापस लौटना होगा–राहत और डंडे की नीति पर। जैसा कि पूंजीवाद के भीतर से कई आवाजें उठ भी रही हैं जो 'कल्याणकारी राज्य' की ओर वापसी की मांग करती हैं। लेकिन जैसा कि पहले कहा गया है, पूंजीपति वर्ग के लिए यह वास्तव में कठिन समय है।

VI संभावनाएं और चुनौतियां

किसी ने इन विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों को उदारीकृत वैश्विक पूंजीवाद के खिलाफ वैश्विक विद्रोह की संज्ञा दी है। इतना आगे न भी जाया जाय तब भी यह स्पष्ट है कि इन विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों का भारी महत्व है।

आज दुनिया में जो भांति–भांति के संघर्ष चल रहे हैं उन्हें मोटा–मोटी तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

इनमें पहले है फराने किस्म के हथियारबंद संघर्ष। कुछ जगहों पर ये कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों एवं अन्य किस्म के वामपंथी संगठनों द्वारा चलाये जा रहे हैं तो कुछ अन्य जगहों पर राष्ट्रवादियों द्वारा या नृजातीय समूहों द्वारा। भारत, फिलीपीन्स और पेरू के संघर्ष कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों द्वारा चलाये जा रहे हैं तो कोलंबिया का स्वघोषित मार्क्सवादी फोर्स द्वारा। अफ्रीकी महाद्वीप के भांति–भांति के सशस्त्र संघर्ष राष्ट्रवादियों द्वारा या नृजातीय समूहों द्वारा चलाये जा रहे हैं। कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों द्वारा चलाये जा रहे सशस्त्र संघर्ष को छोड़ दें तो बाकियों में साम्राज्यवादियों की या पास–पड़ोस के पूंजीवादी शासकों की चालबाजियां भी इसमें अपनी भूमिका निभा रही हैं।

दूसरी किस्म के संघर्ष हैं भांति–भांति के फराने किस्म के जन आंदोलन। इसमें फराने ट्रेडयूनियन संगठनों द्वारा मजदूरों के रक्षात्मक संघर्ष हैं, इसमें हड़तालें हैं, इसमें वर्तमान संकट के दौर में उपजे विरोध प्रदर्शन और प्रतिरोध संघर्ष हैं। इसमें फिलीस्तीन, कश्मीर और पाकिस्तान के जन संघर्ष भी हैं। ये या तो एक लम्बे समय से चल रहे हैं या फिर तात्कालिक स्थितियों के दबाव में पैदा हुए हैं।

तीसरे किस्म के वे संघर्ष हैं जिनका इस लेख के शुरू में वर्णन किया गया है।

इस तीसरी श्रेणी के संघर्षों की विशेषता है कि ये पिछले तीन दशकों की उदारीकृत पूंजीवादी दुनिया की विशिष्ट गतियों से पैदा हुए हैं तथा इनकी प्रकृति रक्षात्मक के बदले आक्रामक है। हालांकि तात्कालिक तौर पर ये पूंजीपति वर्ग के और ज्यादा हमलों से पैदा हुए हैं पर इन्होंने रक्षात्मक के बदले आक्रामक रुख अपनाया है। यूरोप में बैंकपतियों को और अमेरिका में वाल स्ट्रीट तथा '**1** प्रतिशत' को निशाना बनाना इसी का नतीजा है। पिछले तीन दशकों में पहली बार पूंजीपति वर्ग जवाब देने के लिए मजबूर हुआ है और उसके भीतर से पीछे हटने की बातें आयी हैं। यदि दुनिया के सबसे बड़े सट्टेबाज और पूंजीपति पीछे हटने की बात करें तो इसका कुछ मतलब होता है।

इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि खासकर यूरोप और अमेरिका के संघर्ष विश्व साम्राज्यवादी–पूंजीवादी व्यवस्था के ऐन केन्द्र के संघर्ष हैं। एक लम्बे समय तक साम्राज्यवादियों ने बाकी दुनिया को लूट कर अपने यहां मजदूर वर्ग को कुछ राहत प्रदान कर अपने यहां संघर्षों को मुखर होने से रोका। खासकर ऊपरी अभिजात मजदूरों को पालतू बनाकर क्रांतिकारी चेतना को कुंद किया। परन्तु पिछले तीन दशकों के छुट्टे पूंजीवाद ने इस सबको बदल दिया है। इन दशकों में साम्राज्यवादियों ने दुनिया के बाकी मजदूरों–मेहनतकशों को लूटने के साथ अपने मजदूरों को भी बुरी तरह निचोड़ा। यह सब एक ही प्रक्रिया के तहत हुआ। आज अमेरिका में **1980** के आस–पास की मजदूरी दर और दस प्रतिशत की औपचारिक बेरोजगारी की दर इसी को दिखाती है।

इस तरह आज एक एकीकृत वैश्विक पूंजीवादी दुनिया में सारी दुनिया के पैमाने के संघर्ष का नया आधार पैदा हुआ है और वह नये किस्म के संघर्षों में अपने को अभिव्यक्त कर रहा है। सिदी बौजिद के छोटे से कस्बे में पैदा हुयी संघर्ष की लहरें ट्यूनिस, काहिरा, एथेन्स, मैड्रिड और रोम से होते हुए आठ–नौ महीनों में न्यूयार्क और वाशिंगटन में पहुंच गयीं। अबीदीन बेन अली नाम के छुटभैये तानाशाह चाकर से शुरू होकर आठ–नौ महीने बाद निशाना स्वयं वालस्ट्रीट के 'मास्टर्स ऑव द वर्ल्ड' बनने लगे। जो काम फराने किस्म के संघर्ष दशकों में नहीं कर पाये वह नये किस्म के संघर्षों ने कुछ महीनों में कर दिखाया।

ये नये किस्म के संघर्ष नये जमाने से पैदा हुए है और उनमें अपार संभावनाएं हैं। विश्व पूंजीवाद की वर्तमान गंभीर संकटपूर्ण घड़ी में तो इनका वास्तविक क्रांतिकारी महत्व है।

परन्तु कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन के समक्ष इस संदर्भ में चुनौतियां भी बहुत हैं। सबसे बड़ी चुनौती तो वैचारिक जड़ता से मुक्ति की है। इसमें फराने किस्म की क्रांतियों की मंसूबेबाजी से मुक्ति की चुनौती तो है ही साथ ही साथ कहीं गहरे घर कर गई

निराशा–पस्तहिम्मती और पराजयवादी मानसिकता से मुक्ति की चुनौती भी है। यही चीजें कम्युनिस्ट क्रांतिकारी समूहों को छोटे–छोटे टुकड़ों में बंटे हुए अपना रोजमर्रा का काम करते रहने की ओर धकेलती हैं।

इसके साथ ही चुनौती है पूंजीपति वर्ग द्वारा समाज के पोर–पोर में घुसे गैर सरकारी संगठनों के ताने–बाने को छिन्न–भिन्न करने की। इसके बिना संघर्षों के लिए उठ खड़ा होता मजदूर–मेहनतकश वर्ग इनके मकड़जाल में फंस कर रह जायेगा। पूंजीपति वर्ग उमड़ती–घुमड़ती धारा को बांधने में कामयाब हो जायेगा।

लेकिन यह तभी किया जा सकता है जब मजदूर वर्ग को व्यापक पैमाने पर क्रांति के लिए गोलबंद कर लिया जाय। व्यावहारिक तौर पर कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के लिए यही सबसे बड़ी चुनौती है। बिना सबसे क्रांतिकारी वर्ग के मैदान में आये लड़ाई का वास्तविक स्वरूप नहीं उभरेगा। और अब जबकि मजदूर व्यापक पैमाने पर लड़ने के लिए सामने आ रहे हैं तब यह काम पिछले तीन दशकों के किसी भी समय के मुकाबले आज ज्यादा आसान हो गया है।

और यहां पर कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की अपनी एकता का सवाल सबसे गंभीर रूप में पेश हो जाता है। क्या वे स्वयं को देश के पैमाने पर एक एकीकृत पार्टी में संगठित किये बिना मजदूर वर्ग को आसन्न संघर्षों के लिए गोलबंद कर सकते हैं? क्या इस बात की संभावना आज ज्यादा नहीं है कि उनकी अपनी वैचारिक और व्यावहारिक जड़ता तथा तद्जन्य फूट–बिखराव के चलते यह महत्वपूर्ण ऐतिहासिक क्षण उनके बगल से गुजर जाय? वे महज इसके तमाशबीन बन कर रह जायें ?

कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के रूप में यह हमारे लिए अक्षम्य होगा। हमें ऐसा नहीं होने देना है।

(नोट : इस लेख के साथ 'लाल सलाम' अंक **23** में प्रकाशित लेख– ''विश्व आर्थिक संकट : वर्तमान स्थिति'' तथा ''अरब जगत के विद्रोह'' को भी देखें)